भगवान् हमें मुक्ति कैसे देंगे ?

इस प्रकार यदि हम सुख-दु:खका उपभोग न करके उनका सदुपयोग करेंगे, तो हम सुख-दु:खसे ऊँचे उठ जायँगे और महान् आनन्दका अनुभव कर लेंगे।

परिशिष्ट भाव—स्वरूप सत्तारूप है। सत्तामें कोई व्यथा नहीं है। शरीरमें अपनी स्थिति माननेसे ही व्यथा होती है। अत: शरीरमें अपनी स्थिति मानते हुए कोई भी मनुष्य व्यथारहित नहीं हो सकता। व्यथारहित होनेका तात्पर्य है— प्रियको प्राप्त होकर हर्षित न होना और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न होना (गीता—पाँचवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। व्यथारहित होनेसे मनुष्यकी बुद्धि स्थिर हो जाती है—'**स्थिरबुद्धिरसम्मूढ:**' (गीता ५। २०)।

सुखदायी-दु:खदायी परिस्थितिसे सुखी-दु:खी होना ही व्यथित होना है। सुखी-दु:खी होना सुख-दु:खका भोग है। भोगी व्यक्ति कभी सुखी नहीं रह सकता। साधकको सुख-दु:खका भोग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत सुख-दु:खका सदुपयोग करना चाहिये। सुखदायी-दु:खदायी परिस्थितिका प्राप्त होना प्रारब्ध है और उस परिस्थितिको साधन-सामग्री मानकर उसका सदुपयोग करना वास्तविक पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थसे अमरताकी प्राप्ति हो जाती है। सुखका सदुपयोग है—दूसरोंको सुख पहुँचाना, उनकी सेवा करना और दु:खका सदुपयोग है—सुखकी इच्छाका त्याग करना। दु:खका सदुपयोग करनेपर साधक दु:खके कारणकी खोज करता है। दु:खका कारण है—सुखकी इच्छा—'**ये हि संस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एव ते**' (गीता ५। २२)। जो सुख-दु:खका भोग करता है, उस भोगीका पतन हो जाता है और जो सुख-दु:खका सदुपयोग करता है, वह योगी सुख-दु:ख दोनोंसे ऊँचे उठकर अमरताका अनुभव कर लेता है।

सम्बन्ध—अबतक देह-देहीका जो विवेचन हुआ है, उसीको भगवान् दूसरे शब्दोंसे आगेके तीन श्लोकोंमें कहते हैं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि:॥ १६॥ 2.16

असत:	= असत्‌का तो	**अभाव:**	= अभाव	**उभयो:**	= दोनोंका
भाव:	= भाव (सत्ता)	**न, विद्यते**	= विद्यमान नहीं है।	**अपि**	= ही
न, विद्यते	= विद्यमान नहीं है	**तत्त्वदर्शिभि:**	= तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने	**अन्त:**	= तत्त्व
तु	= और			**दृष्ट:**	= देखा अर्थात् अनुभव किया है।
सत:	= सत्‌का	**अनयो:**	= इन		

व्याख्या—[यहाँ (पूर्वार्धमें) भगवान्‌ने '**भू सत्तायाम्**' (**भाव:, अभाव:**), '**अस् भुवि**' (**असत:, सत:**) और '**विद् सत्तायाम्**' (**विद्यते**)—इन तीन सत्तावाचक धातुओंका प्रयोग किया है। इन तीनोंके प्रयोगका तात्पर्य नित्य-तत्त्वकी ओर लक्ष्य करानेमें ही है।]

'**नासतो विद्यते भाव:**'—शरीर उत्पत्तिके पहले भी नहीं था, मरनेके बाद भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी इसका क्षण-प्रतिक्षण अभाव हो रहा है। तात्पर्य है कि यह शरीर भूत, भविष्य और वर्तमान—इन तीनों कालोंमें कभी भावरूपसे नहीं रहता। अत: यह असत् है। इसी तरहसे इस संसारका भी भाव नहीं है, यह भी असत् है। यह शरीर तो संसारका एक छोटा-सा नमूना है; इसलिये शरीरके परिवर्तनसे संसारमात्रके परिवर्तनका अनुभव होता है कि इस संसारका पहले भी अभाव था और पीछे भी अभाव होगा तथा वर्तमानमें भी अभाव हो रहा है।

संसारमात्र कालरूपी अग्निमें लकड़ीकी तरह निरन्तर जल रहा है। लकड़ीके जलनेपर तो कोयला और राख बची रहती है, पर संसारको कालरूपी अग्नि ऐसी विलक्षण रीतिसे जलाती है कि कोयला अथवा राख कुछ भी बाकी नहीं रहता। वह संसारका अभाव-ही-अभाव कर देती है। इसलिये कहा गया है कि असत्‌की सत्ता नहीं है।

'**नाभावो विद्यते सत:**'—जो सत् वस्तु है, उसका अभाव नहीं होता अर्थात् जब देह उत्पन्न नहीं हुआ था, तब भी देही था, देह नष्ट होनेपर भी देही रहेगा और वर्तमानमें देहके परिवर्तनशील होनेपर भी देही उसमें ज्यों-का-त्यों ही रहता है। इसी रीतिसे जब संसार उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय भी परमात्मतत्त्व था, संसारका अभाव होनेपर भी परमात्मतत्त्व रहेगा और वर्तमानमें संसारके परिवर्तनशील होनेपर भी परमात्मतत्त्व उसमें ज्यों-का-त्यों ही है।

मार्मिक बात

संसारको हम एक ही बार देख सकते हैं, दूसरी बार नहीं। कारण कि संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है; अत: एक क्षण पहले वस्तु जैसी थी, दूसरे क्षणमें वह वैसी नहीं रहती, जैसे—सिनेमा देखते समय परदेपर दृश्य स्थिर दीखता है; पर वास्तवमें उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। मशीनपर फिल्म तेजीसे घूमनेके कारण वह परिवर्तन इतनी तेजीसे होता है कि उसे हमारी आँखें नहीं पकड़ पातीं[1]। इससे भी अधिक मार्मिक बात यह है कि वास्तवमें संसार एक बार भी नहीं दीखता। कारण कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जिन करणोंसे हम संसारको देखते हैं—अनुभव करते हैं, वे करण भी संसारके ही हैं। अत: वास्तवमें संसारसे ही संसार दीखता है। जो शरीर-संसारसे सर्वथा सम्बन्धरहित है, उस स्वरूपसे संसार कभी दीखता ही नहीं! तात्पर्य यह है कि स्वरूपमें संसारकी प्रतीति नहीं है। संसारके सम्बन्धसे ही संसारकी प्रतीति होती है। इससे सिद्ध हुआ कि स्वरूपका संसारसे कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

दूसरी बात, संसार (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि)-की सहायताके बिना चेतन-स्वरूप कुछ कर ही नहीं सकता। इससे सिद्ध हुआ कि मात्र क्रिया संसारमें ही है, स्वरूपमें नहीं। स्वरूपका क्रियासे कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

संसारका स्वरूप है—क्रिया और पदार्थ। जब स्वरूपका न तो क्रियासे और न पदार्थसे ही कोई सम्बन्ध है, तब यह सिद्ध हो गया कि शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण संसारका अभाव है। केवल परमात्मतत्त्वका ही भाव (सत्ता) है, जो निर्लिप्तरूपसे सबका प्रकाशक और आधार है।

'उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः'—इन दोनोंके अर्थात् सत्-असत्, देही-देहके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंने इनका तत्त्व देखा है, इनका निचोड़ निकाला है कि केवल एक सत्-तत्त्व ही विद्यमान है।

असत् वस्तुका तत्त्व भी सत् है और सत् वस्तुका तत्त्व भी सत् है अर्थात् दोनोंका तत्त्व एक 'सत्' ही है, दोनोंका तत्त्व भावरूपसे एक ही है। अत: सत् और असत्—इन दोनोंके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंके द्वारा जाननेमें आनेवाला एक सत्-तत्त्व ही है। असत्की जो सत्ता प्रतीत होती है, वह सत्ता भी वास्तवमें सत्की ही है। सत्की सत्तासे ही असत् सत्तावान् प्रतीत होता है। इसी सत्को **'परा प्रकृति'** (गीता ७। ५), **'क्षेत्रज्ञ'** (गीता १३। १-२), **'पुरुष'** (गीता १३। १९) और **'अक्षर'** (गीता १५। १६) कहा गया है; तथा असत्को **'अपरा प्रकृति', 'क्षेत्र', 'प्रकृति'** और **'क्षर'** कहा गया है।

अर्जुन भी शरीरोंको लेकर शोक कर रहे हैं कि युद्ध करनेसे ये सब मर जायँगे। इसपर भगवान् कहते हैं कि क्या युद्ध न करनेसे ये नहीं मरेंगे? असत् तो मरेगा ही और निरन्तर मर ही रहा है। परन्तु इसमें जो सत्-रूपसे है, उसका कभी अभाव नहीं होगा। इसलिये शोक करना तुम्हारी बेसमझी ही है।

ग्यारहवें श्लोकमें आया है कि जो मर गये हैं और जो जी रहे हैं, उन दोनोंके लिये पण्डितजन शोक नहीं करते। बारहवें-तेरहवें श्लोकोंमें देहीकी नित्यताका वर्णन है और उसमें **'धीर'** शब्द आया है। चौदहवें-पंद्रहवें श्लोकोंमें संसारकी अनित्यताका वर्णन आया है, तो उसमें भी **'धीर'** शब्द आया है। ऐसे ही यहाँ (सोलहवें श्लोकमें) सत्-असत्का विवेचन आया है, तो इसमें **'तत्त्वदर्शी'**[2] शब्द आया है। इन श्लोकोंमें **'पण्डित', 'धीर'** और **'तत्त्वदर्शी'** पद देनेका तात्पर्य है कि जो विवेकी होते हैं, समझदार होते हैं, उनको शोक नहीं होता । अगर शोक होता है, तो वे विवेकी नहीं हैं, समझदार नहीं हैं।

परिशिष्ट भाव—सत्तामात्र 'सत्' है और सत्ताके सिवाय जो कुछ भी प्रकृति और प्रकृतिका कार्य (क्रिया और पदार्थ) है, वह 'असत्' अर्थात् परिवर्तनशील है। जिन महापुरुषोंने सत् और असत्—दोनोंका तत्त्व देखा है अर्थात् जिनको सत्तामात्रमें अपनी स्वत:सिद्ध स्थितिका अनुभव हो गया है, उनकी दृष्टि (अनुभव)-में असत्की सत्ता विद्यमान

१-नित्यदा ह्यंग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च। कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते॥ (श्रीमद्भा० ११। २२। ४२)

'यद्यपि प्रतिक्षण ही शरीरोंकी उत्पत्ति और नाश होता रहता है, तथापि कालकी गति अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण उनका प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होना दिखायी नहीं देता।'

२-'नानुशोचन्ति पण्डिता:' (२। ११), 'धीरस्तत्र न मुह्यति' (२। १३), 'समदुःखसुखं धीरम्' (२। १५)—इन तीन जगह जिनको 'पण्डित' और 'धीर' कहा है, उन्हींको यहाँ 'तत्त्वदर्शी' कहा गया है।

है ही नहीं और सत्‌का अभाव विद्यमान है ही नहीं अर्थात् सत्तामात्र (सत्-तत्त्व)-के सिवाय कुछ भी नहीं है।

भगवान्‌ने चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें शरीरकी अनित्यताका वर्णन किया था, उसको यहाँ **'नासतो विद्यते भावः'** पदोंसे कहा है और बारहवें-तेरहवें श्लोकोंमें शरीरीकी नित्यताका वर्णन किया था, उसको यहाँ **'नाभावो विद्यते सतः'** पदोंसे कहा है।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'—इन सोलह अक्षरोंमें सम्पूर्ण वेदों, पुराणों, शास्त्रोंका तात्पर्य भरा हुआ है! असत् और सत्—इन दोनोंको ही प्रकृति और पुरुष, क्षर और अक्षर, शरीर और शरीरी, अनित्य और नित्य, नाशवान् और अविनाशी आदि अनेक नामोंसे कहा गया है। देखने, सुनने, समझने, चिन्तन करने, निश्चय करने आदिमें जो कुछ भी आता है, वह सब 'असत्' है। जिसके द्वारा देखते, सुनते, चिन्तन आदि करते हैं, वह भी 'असत्' है और दीखनेवाला भी 'असत्' है।

इस श्लोकार्ध (सोलह अक्षरों)-में तीन धातुओंका प्रयोग हुआ है—

(१) **'भू सत्तायाम्**—जैसे **'अभावः'** और **'भावः'**।

(२) **'अस् भुवि'**—जैसे, **'असतः'** और **'सतः'**।

(३) **'विद् सत्तायाम्'**—जैसे, **'विद्यते'** और **'न विद्यते'**।

यद्यपि इन तीनों धातुओंका मूल अर्थ एक 'सत्ता' ही है, तथापि सूक्ष्मरूपसे ये तीनों अपना स्वतन्त्र अर्थ भी रखते हैं; जैसे—**'भू'** धातुका अर्थ 'उत्पत्ति' है, **'अस्'** धातुका अर्थ 'सत्ता' (होनापन) है और **'विद्'** धातुका अर्थ 'विद्यमानता' (वर्तमानकी सत्ता) है।

'नासतो विद्यते भावः' पदोंका अर्थ है—**'असतः भावः न विद्यते'** अर्थात् असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है, प्रत्युत असत्‌का अभाव ही विद्यमान है; क्योंकि इसका निरन्तर अभाव (परिवर्तन) होता ही रहता है। असत् वर्तमान नहीं है। असत् उपस्थित नहीं है। असत् प्राप्त नहीं है। असत् मिला हुआ नहीं है। असत् मौजूद नहीं है। असत् कायम नहीं है। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश अवश्य होता है—यह नियम है। उत्पन्न होते ही तत्काल उस वस्तुका नाश शुरू हो जाता है। उसका नाश इतनी तेजीसे होता है कि उसको दो बार कोई देख ही नहीं सकता अर्थात् उसको एक बार देखनेपर फिर दुबारा उसी स्थितिमें नहीं देखा जा सकता। यह सिद्धान्त है कि जिस वस्तुका किसी भी क्षण अभाव है, उसका सदा अभाव ही है। अतः संसारका सदा ही अभाव है। संसारको कितनी ही सत्ता दें, कितना ही महत्त्व दें, पर वास्तवमें वह विद्यमान है ही नहीं। असत् प्राप्त है ही नहीं, कभी प्राप्त हुआ ही नहीं, कभी प्राप्त होगा ही नहीं। असत्‌का प्राप्त होना सम्भव ही नहीं है।

'नाभावो विद्यते सतः' पदोंका अर्थ है—**'सतः अभावः न विद्यते'** अर्थात् सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है, प्रत्युत सत्‌का भाव ही विद्यमान है; क्योंकि इसका कभी अभाव (परिवर्तन) होता ही नहीं। जिसका अभाव हो जाय, उसको सत् कहते ही नहीं। सत्‌की सत्ता निरन्तर विद्यमान है। सत् निरन्तर वर्तमान है। सत् निरन्तर उपस्थित है। सत् निरन्तर प्राप्त है। सत् निरन्तर मिला हुआ है। सत् निरन्तर मौजूद है। सत् निरन्तर कायम है। किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदिमें सत्‌का अभाव नहीं होता। कारण कि देश, काल, वस्तु आदि तो असत् (अभावरूप अर्थात् निरन्तर परिवर्तनशील) है, पर सत् सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता, कोई कमी नहीं आती। अतः सत्‌का सदा ही भाव है। परमात्मतत्त्वको कितना ही अस्वीकार करें, उसकी कितनी ही उपेक्षा करें, उससे कितना ही विमुख हो जायँ, उसका कितना ही तिरस्कार करें, उसका कितनी ही युक्तियोंसे खण्डन करें, पर वास्तवमें उसका अभाव विद्यमान है ही नहीं। सत्‌का अभाव होना सम्भव ही नहीं है। सत्‌का अभाव कभी कोई कर सकता ही नहीं (गीता—दूसरे अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)।

'उभयोरपि दृष्टः'—तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने सत्-तत्त्वको उत्पन्न नहीं किया है, प्रत्युत देखा है अर्थात् अनुभव किया है। तात्पर्य है कि असत्‌का अभाव और सत्‌का भाव—दोनोंके तत्त्व (निष्कर्ष)-को जाननेवाले जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष एक सत्-तत्त्वको ही देखते हैं अर्थात् स्वतः-स्वाभाविक एक 'है' का ही अनुभव करते हैं। असत्‌का तत्त्व भी सत् है और सत्‌का तत्त्व भी सत् है—ऐसा जान लेनेपर उन महापुरुषोंकी दृष्टिमें एक सत्-तत्त्व 'है' के सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं।

असत्‌की सत्ता विद्यमान न रहनेसे उसका अभाव और सत्‌का अभाव विद्यमान न रहनेसे उसका भाव सिद्ध हुआ। निष्कर्ष यह निकला कि असत् है ही नहीं, प्रत्युत सत्-ही-सत् है। उस सत्-तत्त्वमें देह और देहीका विभाग नहीं है।

जबतक असत्‌की सत्ता है, तबतक विवेक है। असत्‌की सत्ता मिटनेपर विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। '**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः**'—इसमें **उभयोरपि**' में विवेक है, '**अन्तः**' में तत्त्वज्ञान है और '**दृष्टः**'में अनुभव है अर्थात् विवेक तत्त्वज्ञानमें परिणत हो गया और सत्तामात्र ही शेष रह गयी। एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है—यह ज्ञानमार्गकी सर्वोपरि बात है।

असत्‌की सत्ता नहीं है—यह भी सत्य है और सत्‌का अभाव नहीं है—यह भी सत्य है। सत्यको स्वीकार करना साधकका काम है। साधकको अनुभव हो अथवा न हो, उसको तो सत्यको स्वीकार करना है। 'है' को स्वीकार करना है और 'नहीं' को अस्वीकार करना है—यही वेदान्त है, वेदोंका खास निष्कर्ष है।

संसारमें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'अभाव' मुख्य रहता है। परमात्मामें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'भाव' मुख्य रहता है। संसारमें 'अभाव' के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं और परमात्मामें 'भाव' के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं। दूसरे शब्दोंमें, संसारमें 'नित्यवियोग' के अन्तर्गत संयोग-वियोग हैं और परमात्मामें 'नित्ययोग' के अन्तर्गत योग-वियोग (मिलन-विरह) हैं। अतः संसारमें अभाव ही रहा और परमात्मामें भाव ही रहा।

सम्बन्ध—सत् और असत् क्या है—इसको आगेके दो श्लोकोंमें बताते हैं।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७॥

अविनाशि	= अविनाशी	**इदम्**	= यह	**विनाशम्**	= विनाश
तु	= तो	**सर्वम्**	= सम्पूर्ण (संसार)	**कश्चित्**	= कोई भी
तत्	= उसको	**ततम्**	= व्याप्त है।	**न**	= नहीं
विद्धि	= जान,	**अस्य**	= इस	**कर्तुम्**	= कर
येन	= जिससे	**अव्ययस्य**	= अविनाशीका	**अर्हति**	= सकता।

व्याख्या—'**अविनाशि तु तद्विद्धि**'—पूर्वश्लोकमें जो सत्-असत्‌की बात कही थी, उसमेंसे पहले '**सत्**'की व्याख्या करनेके लिये यहाँ '**तु**' पद आया है।

'उस अविनाशी तत्त्वको तू समझ'—ऐसा कहकर भगवान्‌ने उस तत्त्वको परोक्ष बताया है। परोक्ष बतानेमें तात्पर्य है कि इदंतासे दीखनेवाले इस सम्पूर्ण संसारमें वह परोक्ष तत्त्व ही व्याप्त है, परिपूर्ण है। वास्तवमें जो परिपूर्ण है, वही 'है' और जो सामने संसार दीख रहा है, यह 'नहीं' है।

यहाँ '**तत्**' पदसे सत्-तत्त्वको परोक्ष रीतिसे कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि वह तत्त्व बहुत दूर है; किन्तु वह इन्द्रियों और अन्तःकरणका विषय नहीं है, इसलिये उसको परोक्ष रीतिसे कहा गया है।

'**येन सर्वमिदं ततम्**'*—जिसको परोक्ष कहा है, उसीका वर्णन करते हैं कि यह सब-का-सब संसार उस नित्य-तत्त्वसे व्याप्त है। जैसे सोनेसे बने हुए गहनोंमें सोना,

* 'येन सर्वमिदं ततम्'—ये पद गीतामें तीन बार आये हैं। उनमेंसे यहाँ (२। १७ में) ये पद शरीरीके लिये आये हैं कि इस शरीरीसे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है। यह बात सांख्ययोगकी दृष्टिसे कही गयी है। दूसरी बार ये पद आठवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें आये हैं। वहाँ कहा गया है कि जिस ईश्वरसे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, वह अनन्यभक्तिसे मिलता है। अतः भक्तिका वर्णन होनेसे उपर्युक्त पद ईश्वरके विषयमें आये हैं। तीसरी बार ये पद अठारहवें अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें आये हैं। वहाँ कहा गया है कि जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उसका चारों वर्ण अपने-अपने कर्मोंद्वारा पूजन करें। यह वर्णन भी भक्तिकी दृष्टिसे हुआ है।

नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें राजविद्याका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने 'मया ततमिदं सर्वम्' पदोंसे कहा है कि यह सम्पूर्ण संसार मेरेसे व्याप्त है। इस प्रकार तीन जगह तो 'येन' पद देकर उस तत्त्वको परोक्षरूपसे कहा है, और एक जगह 'अस्मत्' शब्द—'मया' देकर स्वयं भगवान्‌ने अपरोक्षरूपसे अपनी बात कही है।